शहादते-इमाम हुसैन (रज़ि॰)

सैयद अबुल-आला मौदूदी (रह॰)

अनुवाद

डॉ॰ फ़रहत हुसैन

'बिसमिल्लाहिर्रहमानिर्रहीम'

"अल्लाह के नाम से जो बहुत मेहरबान, बड़ा रह्मवाला है।"

शहादते-इमाम हुसैन(रज़ि०)

शहादत का मक़सद

हर साल करोड़ों मुसलमान मुहर्रम के महीने में हज़रत इमाम हुसैन (रज़ि०) की शहादत पर अपने दुख और ग़म का इज़हार करते हैं। लेकिन अफ़सोस है कि इनमें से बहुत ही कम लोग उस मक़सद पर ध्यान देते हैं जिसके लिए इमाम हुसैन (रज़ि०) ने न सिर्फ़ अपनी प्यारी जान क़ुरबान कर दी, बल्कि अपने ख़ानदान के बच्चों तक को क़ुरबान कर दिया। किसी शख़्स की ज़ुल्म और सितम ढाकर की गई शहादत पर उसके ख़ानदानवालों का और उसके ख़ानदान से मुहब्बत, अक़ीदत और हमदर्दी रखनेवालों का अपने दुख और ग़म का इज़हार करना एक फ़ितरी बात है। ऐसा दुख और ग़म दुनिया के हर ख़ानदान और उससे ताल्लुक़ रखनेवालों की तरफ़ से ज़ाहिर होता है। उसकी अहमियत इससे ज़्यादा कुछ नहीं है कि यह उस शख़्स की ज़ात के साथ उसके रिश्तेदारों और ख़ानदान के हमदर्दों की मुहब्बत का फ़ितरी तक़ाज़ा है, लेकिन सवाल यह है कि इमाम हुसैन (रज़ि०) की शहादत में वह क्या ख़ास बात है जिसकी वजह से लगभग चौदह सौ साल बीत जाने पर भी हर साल उनका ग़म ताज़ा होता है? अगर यह शहादत किसी बड़े मक़सद के लिए नहीं थी तो सिर्फ़ ज़ाती मुहब्बत और ताल्लुक़ की वजह से सदियों उसका ग़म जारी रहने का कोई मतलब नहीं है। और ख़ुद इमाम हुसैन (रज़ि०) की अपनी नज़र में इस ज़ाती और शख़्सी मुहब्बत की क्या क़ीमत हो सकती है? उन्हें अगर अपनी ज़ात उस मक़सद से ज़्यादा प्यारी होती तो वे उसे क़ुरबान ही क्यों करते? उनकी यह क़ुरबानी तो ख़ुद इस बात का सुबूत है कि वे उस मक़सद को अपनी जान से बढ़कर चाहते थे। इसलिए अगर हम उस मक़सद के लिए कुछ न करें, बल्कि उसके ख़िलाफ़ काम करते

रहें तो सिर्फ़ उनके लिए मातम करके और उनके क़ातिलों पर लानत-मलामत करके क़ियामत के दिन न तो हम इमाम हुसैन (रज़ि॰) ही से किसी शाबाशी की उम्मीद रख सकते हैं और न यह उम्मीद रख सकते हैं कि उनका ख़ुदा इसकी कोई क़द्र करेगा।

अब देखना चाहिए कि वह मक़सद क्या था? क्या इमाम हुसैन (रज़ि॰) तख़्त और ताज के लिए अपने किसी निजी हक़ का दावा रखते थे और उसी के लिए उन्होंने अपनी जान की बाज़ी लगाई? कोई शख़्स भी जो इमाम हुसैन (रज़ि॰) के घराने की बुलन्द अख़लाक़ी सीरत और किरदार को जानता है यह बदगुमानी नहीं कर सकता कि ये लोग अपने लिए हुकूमत हासिल करने की ख़ातिर मुसलमानों में ख़ून-ख़राबा कर सकते थे। अगर थोड़ी देर के लिए उनकी बात ही सही मान ली जाए जिनकी राय में यह ख़ानदान हुकूमत पर अपने निजी हक़ का दावा रखता था, तब भी हज़रत अबू-बक्र (रज़ि॰) से लेकर हज़रत अमीर मुआविया (रज़ि॰) तक पचास साल की पूरी तारीख़ इस बात पर गवाह है कि हुकूमत हासिल करने के लिए लड़ना और ख़ून-ख़राबा करना हरगिज़ उनका तरीक़ा न था। इसलिए यही मानना पड़ेगा कि हज़रत इमाम हुसैन (रज़ि॰) की निगाहें उस वक़्त मुस्लिम समाज और इस्लामी हुकूमत की रूह और उसके मिज़ाज और उसके निज़ाम (सिस्टम) में किसी बड़ी तब्दीली के आसार देख रही थीं, जिसे रोकने की कोशिश करना उनके नज़दीक ज़रूरी था, यहाँ तक कि इसमें लड़ने की नौबत आ जाए तो वे उसे न सिर्फ़ जाइज़, बल्कि फ़र्ज़ समझते थे।

हुकूमत के मिज़ाज, मक़सद और दस्तूर की तब्दीली

वह तब्दीली क्या थी? ज़ाहिर है, लोगों ने अपना दीन नहीं बदल दिया था। हुक्मरानों समेत सब लोग अल्लाह और रसूल और क़ुरआन को उसी तरह मान रहे थे जिस तरह पहले मानते थे। मुल्क का क़ानून भी नहीं बदला था। अदालतों में क़ुरआन और सुन्नत ही के मुताबिक़ तमाम मामलों के फ़ैसले बनी-उमैया की हुकूमत में भी वैसे ही हो रहे थे जिस तरह उनके हाथ में हुकूमत आने से पहले हुआ करते थे, बल्कि क़ानून में तब्दीली तो

उन्नीसवीं सदी ईसवी से पहले दुनिया की मुस्लिम हुकूमतों में से किसी के दौर में भी नहीं हुई। कुछ लोग यज़ीद के किरदार और चाल-चलन को बहुत उभारकर पेश करते हैं, जिससे यह आम ग़लतफ़हमी पैदा हो गई है कि वह तब्दीली जिसे रोकने के लिए इमाम हुसैन (रज़ि॰) खड़े हुए थे, बस यह थी कि एक बुरे आदमी के हाथ में हुकूमत की बागडोर आ गई थी। लेकिन यज़ीद की सीरत और किरदार की जो बुरी-से-बुरी तस्वीर पेश करना मुमकिन है उसे ज्यों-का-त्यों मान लेने के बाद भी यह बात तस्लीम करने के क़ाबिल नहीं है कि अगर निज़ाम (सिस्टम) सही बुनियादों पर क़ायम हो तो सिर्फ़ एक बुरे आदमी का इक़तिदार और हुकूमत में आ जाना कोई ऐसी बड़ी बात हो सकती है, जिसपर इमाम हुसैन (रज़ि॰) जैसा अक़्लमन्द, समझदार और शरीअत के इल्म में गहरी नज़र रखनेवाला शख़्स बेसब्र हो जाए। इसलिए यह निजी मामला भी वह अस्ल तब्दीली नहीं है जिसने इमाम हुसैन (रज़ि॰) को बेचैन किया था। तारीख़ (इतिहास) को गहराई से पढ़ने पर जो चीज़ साफ़ तौर से हमारे सामने आती है वह यह है कि यज़ीद की वली-अहदी और फिर उसको हुकूमत सौंपने से अस्ल में जिस ख़राबी की शुरुआत हो रही थी वह इस्लामी हुकूमत के दस्तूर, उसके मिज़ाज और उसके मक़सद की तब्दीली थी। इस तब्दीली के पूरे नतीजे हालाँकि उस वक़्त सामने नहीं आए थे, लेकिन एक अक़्लमन्द आदमी गाड़ी का रुख़ तब्दील होते ही यह जान लेता है कि अब उसका रास्ता बदल रहा है, और जिस रास्ते पर गाड़ी मुड़ रही है वह आख़िरकार उसे कहाँ ले जाएगी। यही रुख़ की तब्दीली थी जिसे इमाम हुसैन (रज़ि॰) ने देखा और गाड़ी को फिर से सही पटरी पर डालने के लिए अपनी जान लड़ा देने का फ़ैसला किया।

रास्ते से हटने की शुरुआत

इस चीज़ को ठीक-ठीक समझने के लिए हमें देखना चाहिए कि अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) और ख़िलाफ़ते-राशिदा[1] की सरबराही में हुकूमत का जो

1. यानी नबी (सल्ल॰) के तरीक़े पर हुकूमत करनेवाले ख़लीफ़ा-हज़रत अबू-बक्र, हज़रत उमर, हज़रत उसमान, हज़रत अली (रज़ि॰)। इनकी हुकूमत को 'ख़िलाफ़ते-राशिदा' कहा जाता है।

निज़ाम चालीस साल तक चलता रहा उसके दस्तूर की बुनियादी ख़ुसूसियतें क्या थीं और यज़ीद की जानशीनी से मुसलमानों में हुकूमत के जिस दूसरे निज़ाम की शुरुआत हुई उसके अन्दर क्या ख़ुसूसियतें बनी-उमैया और बनी-अब्बास और बाद की बादशाहियों में ज़ाहिर हुईं। इससे हम यह जान सकते हैं कि यह गाड़ी पहले किस लाइन पर चल रही थी और तब्दीली के इस मोड़ पर पहुँचकर आगे किस लाइन पर चल पड़ी। और इसी से यह बात भी हमारी समझ में आ सकती है कि जिस शख़्स ने अल्लाह के रसूल (सल्ल॰), सैयदा फ़ातिमा (रज़ि॰) और हज़रत अली (रज़ि॰) की गोद में तरबियत पाई थी, जिसने सहाबा (रज़ि॰) की बेहतरीन सोसाइटी में बचपन से बुढ़ापे तक की मंज़िलें तय की थीं, वह गाड़ी का रुख़ बदलते देखकर उसे नई लाइन पर जाने से रोकने के लिए क्यों खड़ा हो गया और क्यों उसने इस बात की परवाह न की कि इस ज़ोरदार गाड़ी का रुख़ मोड़ने के लिए उसके आगे खड़े होने का क्या नतीजा हो सकता है।

इनसानी बादशाही की शुरुआत

इस्लामी हुकूमत की सबसे पहली ख़ुसूसियत यह थी कि उसमें सिर्फ़ ज़बान से ही यह नहीं कहा जाता था, बल्कि सच्चे दिल से यह माना भी जाता था और अमली रवैये से इस अक़ीदे और यक़ीन का पूरा सुबूत दिया जाता था कि मुल्क अल्लाह का है, उसमें बसनेवाले लोग अल्लाह की प्रजा हैं और हुकूमत प्रजा के मामले में अल्लाह के सामने जवाबदेह है। हुकूमत इस प्रजा की मालिक नहीं है और प्रजा हुकूमत की ग़ुलाम नहीं है। हुक्मरानों का काम यह है कि पहले वह ख़ुद अल्लाह के बन्दे और ग़ुलाम बनें, फिर उनकी ज़िम्मेदारी है कि अल्लाह की प्रजा पर अल्लाह का क़ानून लागू करें। लेकिन यज़ीद की जानशीनी से जिस इनसानी बादशाही की मुसलमानों में शुरुआत हुई उसमें अल्लाह की बादशाही का तसव्वुर सिर्फ़ ज़बान से कह देने की हद तक रह गया, अमली तौर पर वही नज़रिया अपना लिया गया जो हमेशा से हर इनसानी बादशाही का रहा है, यानी मुल्क बादशाह और शाही ख़ानदान का है और वह प्रजा की जान-माल, इज़्ज़त और आबरू हर चीज़ का मालिक है। अल्लाह का क़ानून उन बादशाहतों में लागू हुआ भी

तो सिर्फ़ आम लोगों पर हुआ, बादशाह और उनके ख़ानदान और हाकिमों और दूसरे बड़े लोगों पर यह क़ानून लागू नहीं हुआ।

'नेकी का हुक्म देने और बुराई से रोकने' के काम का बन्द होना

इस्लामी हुकूमत का मक़सद अल्लाह की ज़मीन में उन नेकियों को क़ायम करना और बढ़ावा देना था जो अल्लाह को पसन्द हैं और उन बुराइयों को दबाना और मिटाना था जो अल्लाह को नापसन्द हैं। मगर इनसानी बादशाहत का रास्ता अपनाने के बाद हुकूमत का मक़सद देशों और इलाक़ों को जीतना, लगान, टैक्स और मालगुज़ारी वुसूल करना और ऐशपरस्ती के सिवा कुछ न रहा। अल्लाह का कलिमा बुलन्द करने की ख़िदमत बादशाहों ने कम ही अंजाम दी। उनके हाथों और उनके अमीरों, हाकिमों और दरबारियों के हाथों भलाइयाँ कम और बुराइयाँ ज़्यादा फैलीं। भलाइयों के परवान चढ़ने और बुराइयों की रोकथाम और दीन की तबलीग़ और इस्लामी इल्म की तरक़्क़ी और रिसर्च के लिए जिन अल्लाह के नेक बन्दों ने काम किया उन्हें हुकूमतों से मदद मिलनी तो दूर की बात है, ज़्यादातर वे हुक्मरानों के ग़ज़ब ही का शिकार रहे और अपना काम वे उन रुकावटों के बावजूद करते रहे जो हुक्मरानों ने खड़ी की थीं। दूसरी तरफ़ हुकूमतों, उनके हाकिमों और कारिन्दों की ज़िन्दगियों और पॉलीसियों के असर से मुस्लिम समाज अख़लाक़ी गिरावट की तरफ़ जाता रहा। हद यह है कि ये लोग अपने फ़ायदे के लिए इस्लाम के फैलाव में रुकावटें डालने से भी न चूके, जिसकी सबसे बुरी मिसाल यह है कि उमैया ख़ानदान की हुकूमत में नव-मुस्लिमों पर जिज़या (टैक्स) लगाया गया।

इस्लामी हुकूमत की रूह परहेज़गारी और ख़ुदातरसी की रूह थी, जो सबसे ज़्यादा हुकूमत के सरबराह में दिखाई देती थी। हुकूमत के कारिन्दे क़ाज़ी (जज) और सिपहसालार सबमें यह रूह मौजूद होती थी और फिर इसी रूह को पूरे समाज में समोते थे। लेकिन बादशाही की राह पर पड़ते ही मुसलमानों की हुकूमतों और उनके हुक्मरानों ने क़ैसर और क़िसरा[1] जैसे

1. उस वक़्त के रूम और ईरान के ग़ैर-मुस्लिम बादशाह।

रंग-ढंग और ठाठ-बाट अपना लिए। इनसाफ़ की जगह ज़ुल्म और सितम बढ़ता और छाता चला गया। नेकी और परहेज़गारी की जगह गुनाहों, अय्याशी, राग-रंग और दूसरी बुरी बातों की शुरुआत हुई। जाइज़ और नाजाइज़, सही और ग़लत का फ़र्क़ हुक्मरानों की ज़िन्दगी से मिटता चला गया। सियासत से अख़लाक़ जुदा होने लगा। अल्लाह से ख़ुद डरने के बजाए हाकिम लोग अल्लाह के बन्दों को अपने-आपसे डराने लगे और लोगों के ईमान और ज़मीर को जगाने के बजाए बख़्शिशों का लालच देकर उन्हें ख़रीदने लगे।

इस्लामी दस्तूर के बुनियादी उसूल

यह तो थी रूह, मिज़ाज, मक़सद और नज़रिये की तब्दीली। ऐसी ही तब्दीली इस्लामी दस्तूर के बुनियादी उसूलों में भी दिखाई देने लगी। इस दस्तूर के सात अहम उसूल थे, जिनमें से हर एक को बदल डाला गया।

1. आज़ाद चुनाव : इस्लामी दस्तूर का बुनियादी उसूल यह था कि हुकूमत लोगों की आज़ाद राय और रज़ामन्दी से क़ायम हो, कोई शख़्स अपनी कोशिश से उसे हासिल न करे, बल्कि आम राय और मश्वरे से बेहतर-से-बेहतर आदमी को चुनकर हुकूमत उसके हवाले कर दें। बैअ़त[1] हुकूमत का नतीजा न हो, बल्कि लोग जिसपर बैअ़त करें उसे हुकूमत हासिल हो। बैअ़त हासिल होने में आदमी की अपनी कोशिश या साज़िश का हाथ न हो। लोग बैअ़त करने या न करने के मामले में पूरी तरह आज़ाद हों। जब तक किसी शख़्स को बैअ़त हासिल न हो, उसके हाथ में हुकूमत न आए और जब लोगों का एतिमाद उसपर से उठ जाए तो वह हुकूमत से चिमटा न रहे, ख़ुलफ़ाए-राशिदीन इसी क़ायदे और तरीक़े से इक़तिदार में आए थे। हज़रत अमीर मुआविया के मामले में पोज़ीशन में शक पैदा हो गया। इसी लिए सहाबी होने के बावजूद उनको 'ख़ुलफ़ाए-राशिदीन' में शामिल नहीं किया जाता। आख़िरकार यज़ीद की जानशीनी वह इनक़िलाबी कार्रवाई साबित हुई जिसने इस क़ायदे और तरीक़े को उलटकर रख दिया। इससे ख़ानदानी

1. किसी शख़्स का ख़लीफ़ा को तस्लीम करने के बाद उसकी वफ़ादारी का एलान करना।

वेरासत में मिलनेवाली बादशाहतों का वह मिसलसिला शुरू हुआ कि आज तक मुसलमानों को अपनी मरज़ी और राय से चुनी हुई ख़िलाफ़त की तरफ़ पलटना नसीब न हो सका। अब लोग मुसलमानों के आज़ाद और आम मश्वरे से नहीं, बल्कि ताक़त से इक़तिदार (सत्ता) में आने लगे। अब बैअ़त के ज़रिए से हुकूमत हासिल होने के बजाए इक़तिदार से बैअ़त हासिल की जाने लगी। अब बैअ़त करने या न करने में लोग आज़ाद न रहे और बैअ़त का हासिल होना हुकूमत और इक़तिदार पर क़ायम रहने के लिए शर्त न रहा। लोगों की अव्वल तो यह मजाल ही न थी कि जिसके हाथ में इक़तिदार था उसकी बैअ़त न करते, लेकिन अगर वे बैअ़त न भी करते तो जिसके हाथ में इक़तिदार आ गया था वह हटनेवाला न था। इसी जबरी बैअ़त को जब मनसूर अब्बासी के ज़माने में इमाम मालिक (रह०) ने ग़लत क़रार दिया तो इस 'जुर्म' में उनकी पीठ पर कोड़े बरसाए गए और उनके हाथ कन्धों से उखड़वा दिए गए।

2. शूराई निज़ाम : दूसरा क़ायदा इस दस्तूर का यह था कि हुकूमत मश्वरे से की जाए और मश्वरा उन लोगों से किया जाए जिनके इल्म, परहेज़गारी और सही राय देने की ख़ूबी पर आम लोगों को एतिमाद हो। ख़ुलफ़ा-ए-राशिदीन के ज़माने में जो लोग शूरा (सलाहकार कमेटी) के मेम्बर बनाए गए, हालाँकि उनको आम चुनाव के ज़रिए से नहीं चुना गया, आज के हिसाब से वे नामज़द किए हुए (Nominated) लोग थे, लेकिन ख़लीफ़ाओं ने यह देखकर उन्हें मेम्बर नहीं बनाया था कि ये लोग हमारी हाँ-में-हाँ मिलाने और हमारे मफ़ाद (फ़ायदे) की ख़िदमत करने के लिए सबसे मुनासिब लोग हैं, बल्कि उन्होंने पूरी सच्चाई, नेकनीयती और बेग़रज़ी के साथ क़ौम के बेहतरीन लोगों को चुना था, जिनसे वे हक़ (सच) बात कहने के अलावा कोई उम्मीद न रखते थे, जिनसे उम्मीद थी कि वे हर मामले में अपने इल्म और ज़मीर (अंतरात्मा) के मुताबिक़ ईमानदारी के साथ बिलकुल सही राय देंगे, जिनसे किसी को यह ख़तरा न था कि वे हुकूमत को किसी ग़लत रास्ते पर जाने देंगे। अगर उस वक़्त मुल्क में आजकल के तरीक़े के मुताबिक़ चुनाव भी होते तो आम मुसलमान उन्हीं को अपने वोट देते। लेकिन शाही

दौर की शुरुआत होते ही 'शूरा' का यह तरीक़ा बदल गया। अब बादशा ज़ोर-ज़बरदस्ती और तानाशाही से हुकूमत करने लगे। अब शहज़ादे औ चापलूस लोग, दरबारी सूबों के गवर्नर और फ़ौजों के सिपहसालार उनव काउंसिल के मेम्बर थे। अब ऐसे लोग उनके सलाहकार थे जिनके मामले । अगर क़ौम की राय ली जाती तो एतिमाद के एक वोट के मुक़ाबले में लान के हज़ार वोट आते। दूसरी तरफ़ हक़ पहचानने, सच बोलने और इल रखनेवाले जिन लोगों पर क़ौम को भरोसा था वे बादशाह की नज़र में भरो के क़ाबिल न थे, बल्कि उल्टे बादशाह उन लोगों से नाराज़ रहते या कम-से कम उनपर शक करते थे।

3. राय देने की आज़ादी : इस दस्तूर (क़ायदे-क़ानून) का तीसरा उसू यह था कि लोगों को अपनी बात कहने और राय ज़ाहिर करने की पू आज़ादी हो। नेकी का हुक्म देने और बुराई से रोकने को इस्लाम ने ह मुसलमान का हक़ ही नहीं बताया, बल्कि फ़र्ज़ किया था। इस्लामी समा और हुकूमत सही रास्ते पर उसी वक़्त चल सकती थी जब लोगों के ज़मी और उनकी ज़बानें आज़ाद हों, वे हर ग़लत काम पर बड़े-से-बड़े आदमी क टोक सकें और हक़ बात खुलेआम कह सकें। ख़िलाफ़ते-राशिदा में सिर्फ़ यह नहीं कि लोगों का यह हक़ पूरी तरह महफ़ूज़ था, बल्कि ख़लीफ़ा इसे उनक हक़ समझते थे और इस फ़र्ज़ के अदा करने में उनका हौसला बढ़ाते थे उनकी मजलिसे-शूरा (सलाहकार कमेटी) के मेम्बरों ही को नहीं, क़ौम के ह आदमी को बोलने, टोकने और ख़ुद ख़लीफ़ा से पूछगछ करने की पू आज़ादी थी, जिसके इस्तेमाल पर लोगों को डाँट और धमकी नहीं, बल्वि दाद और तारीफ़ मिलती थी। यह आज़ादी उनकी तरफ़ से कोई बख़्शिश न थी, जिसके लिए वे क़ौम पर अपना एहसान जताते, बल्कि यह इस्ला का दिया हुआ एक दस्तूरी (क़ानूनी) हक़ था जिसका लिहाज़ करना वे अपन फ़र्ज़ समझते थे और उसे भलाई के लिए इस्तेमाल करना हर मुसलमान प अल्लाह और रसूल (सल्ल०) की लागू की हुई एक ज़िम्मेदारी थी, जिसक अदाएगी के लिए समाज और हुकूमत के माहौल को हर वक़्त साज़गार औ दुरुस्त रखना उनकी नज़र में ख़िलाफ़त के कामों का एक ज़रूरी हिस्सा था

ेकिन बादशाही के शुरू होते ही ज़मीरों और दिलों पर ताले डाल दिए गए और मुँह बन्द कर दिए गए। अब क़ायदा यह हो गया कि अगर मुँह खोलो ो तारीफ़ के लिए खोलो, वरना चुप रहो। अगर तुम्हारा ज़मीर (अन्तरात्मा) तना ज़ोरदार है कि सच बात कहने से तुम नहीं रुक सकते तो क़ैद या क़त्ल ोने के लिए तैयार हो जाओ। यह पॉलीसी धीरे-धीरे मुसलमानों को कमहिम्मत, बुज़दिल और मस्लहत-परस्त बनाती चली गई। ख़तरा मोल ेकर हक़ बात कहनेवाले उनके अन्दर कम होते चले गए। चापलूसी और ख़ुशामद की क़ीमत मार्केट में चढ़ती और नेकी और सच्चाई की क़ीमत गेरती चली गई। अच्छी क़ाबिलियत रखनेवाले ईमानदार और आज़ाद ख़याल लोग हुकूमत से दूर हो गए और लोगों का हाल यह हो गया कि किसी शाही ख़ानदान की हुकूमत बरक़रार रखने के लिए उनके दिलों में कोई जज़्बा बाक़ी न रहा। एक को हटाने के लिए जब दूसरा आया तो उन्होंने हिफ़ाज़त में कोई मदद न की और गिरनेवाला जब गिरा तो उन्होंने एक लात रसीद करके उसे ज़्यादा गहरे गढ़े में फेंक दिया। हुकूमतें जाती और आती रहीं, मगर लोगों ने तमाशाई से बढ़कर उनके आने-जाने में कोई दिलचस्पी नहीं ली।

4. अल्लाह और लोगों के सामने जवाबदेही : चौथा उसूल जो इस तीसरे उसूल के साथ बिलकुल जुड़ा हुआ था, यह था कि ख़लीफ़ा और उसकी हुकूमत अल्लाह और अवाम (जनता) दोनों के सामने जवाबदेह है। जहाँ तक अल्लाह के सामने जवाबदेही का ताल्लुक़ है, इसके एहसास से ख़ुलफ़ाए-राशिदीन पर दिन का चैन और रात का आराम हराम हो गया था। और जहाँ तक अवाम (जनता) के सामने जवाबदेही का ताल्लुक़ है वे हर वक़्त और हर जगह अपने-आपको जनता के सामने जवाबदेह समझते थे। उनकी हुकूमत का यह उसूल न था कि सिर्फ़ मजलिसे-शूरा (पॉर्लियामेंट) में ही नोटिस देकर उनसे सवाल किया जा सकता है। वे हर रोज़ पाँच बार नमाज़ की जमाअत में अपनी जनता का सामना करते थे। वे हर हफ़्ते जुमे की नमाज़ में जनता के सामने अपनी कहते और उनकी सुनते थे। वे दिन-रात बाज़ारों में किसी बॉडी-गार्ड के बग़ैर और किसी 'हटो-बचो' की आवाज़ के

बग़ैर अवाम (जनता) के बीच चलते-फिरते थे। उनके गवर्नमेंट हाउस (जो उनका कच्चा मकान हुआ करता था) का दरवाज़ा हर एक के लिए खुला था और हर कोई उनसे मिल सकता था। इन सब मौक़ों पर हर शख़्स उनसे सवाल कर सकता था और जवाब तलब कर सकता था। यह महदूद (सीमित) जवाबदेही न थी, बल्कि खुली और हर वक़्त की जवाबदेही थी। यह चुने हुए .खास लोगों के ज़रिए से भी न थी, बल्कि सीधे तौर पर पूरी क़ौम के सामने थी। वे जनता की मरज़ी से इक़तिदार में आए थे और जनता उन्हें हटाकर दूसरा .खलीफ़ा हर वक्त ला सकती थी। इसलिए न तो उन्हें लोगों का सामना करने में कोई ख़तरा महसूस होता था और न हुकूमत से हट जाने में उन्हें कोई तकलीफ़ थी कि वे उससे बचने की कभी फ़िक्र करते। लेकिन बादशाही का दौर आते ही जवाबदेह हुकूमत का तसव्वुर .खत्म हो गया। अल्लाह के सामने जवाब देने का .खयाल चाहे ज़बानों पर रह गया हो, मगर अमल में नहीं था। रही अवाम (जनता) के सामने जवाबदेही, तो कौन माई का लाल था जो उनसे जवाब तलब कर सकता था। वे अपनी क़ौम के फ़ातेह थे। हारे हुए लोगों के सामने कौन फ़ातेह (विजेता) जवाबदेह होता है। वे ताक़त से हुकूमत में आए थे। उनका नारा था कि जिसमें ताक़त हो वह हमसे हुकूमत (सत्ता) छीन ले। ऐसे लोग जनता का सामना कब किया करते हैं और जनता उनके क़रीब कहाँ फटक सकती है। वे नमाज़ भी पढ़ते थे तो 'ऐसे-वैसे' लोगों के साथ नहीं, बल्कि अपने महलों की महफ़ूज़ मस्जिदों में, या बाहर अपने भरोसे के बॉडी-गार्ड के झुरमुट में। उनकी सवारियाँ निकलती थीं तो आगे-पीछे हथियारबन्द दस्ते होते थे और रास्ते साफ़ कर दिए जाते थे, जनता की और उनकी मुठभेड़ किसी जगह होती ही न थी।

5. बैतुलमाल–एक अमानत : इस्लामी दस्तूर का पाँचवाँ उसूल यह था कि बैतुलमाल (सरकारी .खज़ाना) .खुदा का माल है और मुसलमानों की अमानत है, जिसमें कोई चीज़ ग़लत तरीक़े से दाख़िल नहीं होनी चाहिए और जिसमें से कोई चीज़ ग़लत रास्ते में नहीं जानी चाहिए। .खलीफ़ा का हक़ इस माल में उतना ही है जितना क़ुरआन के मुताबिक़ यतीम के माल में उसके

ारपरस्त का होता है कि—"जो आदमी अपनी ज़रूरत-भर आमदनी रखता ो वह उस माल में से तनख़्वाह लेते हुए शर्म महसूस करे और जो वाक़ई ज़रूरतमन्द हो वह उतनी ही तनख़्वाह ले जो मुनासिब हो।" (क़ुरआन, ूरा-4 अन-निसा, आयत-6) .ख़लीफ़ा .ख़ज़ाने की एक-एक पाई (पैसे) की आमदनी और .ख़र्च का हिसाब देने का ज़िम्मेदार है और मुसलमानों को उससे हेसाब माँगने का पूरा हक़ है।

.ख़ुलफ़ाए-राशिदीन ने इस उसूल पर पूरी ईमानदारी और सच्चाई के ाथ चलकर दिखाया। उनके .ख़ज़ाने में जो कुछ आता था ठीक-ठीक इस्लामी क़ानून के मुताबिक़ आता था और उसमें से जो कुछ .ख़र्च होता था बेलकुल जाइज़ रास्तों में होता था। उनमें से जिनकी आमदनी ज़रूरत-भर ी उन्होंने .ख़ज़ाने का एक पैसा भी अपनी ज़ात के लिए तनख़्वाह के तौर ार नहीं लिया और मुफ़्त ख़िदमत की, बल्कि अपनी जेब से क़ौम के लिए ख़र्च करने से भी न चूके। जो तनख़्वाह के बग़ैर पूरे वक़्त के लिए ख़िदमतगार न बन सकते थे, उन्होंने अपनी ज़रूरत के लिए इतनी कम तनख़्वाह ली कि हर सही आदमी उसे इनसाफ़ से कम ही मानेगा, ज़्यादा कहने की हिम्मत उनका दुश्मन भी नहीं कर सकता। फिर उस .ख़ज़ाने की आमदनी-.ख़र्च का हिसाब हर शख़्स हर वक़्त माँग सकता था, और वे हर वक़्त हर एक के सामने हिसाब देने के लिए तैयार थे। उनसे एक आम आदमी सबके सामने पूछ सकता था कि ख़ज़ाने में यमन से जो चादरें आई ैं उनकी लम्बाई-चौड़ाई तो इतनी न थी कि जनाब का यह लम्बा कुरता बन सके, यह ज़्यादा कपड़ा आप कहाँ से लाए हैं? मगर जब ख़िलाफ़त बादशाही में तब्दील हो गई तो .ख़ज़ाना .ख़ुदा और मुसलमानों का नहीं, बल्कि बादशाह का माल था। हर जाइज़ और नाजाइज़ रास्ते से उसमें दौलत आती थी और हर जाइज़ और नाजाइज़ रास्ते में बेरोक-टोक .ख़र्च होती थी। किसी की हिम्मत न थी कि उसके हिसाब का सवाल उठा सके। सारा मुल्क एक ऐसा आम दस्तरख़ान था जिसपर एक चपरासी से लेकर मुल्क के सरबराह तक, अपनी पहुँच के मुताबिक़ हाथ मार रहे थे और यह .ख़याल ही दिल से निकल गया था कि हुकूमत मिलने से लूट-मार का सर्टीफ़िकेट नहीं मिल जाता और

न पब्लिक का माल माँ का दूध है जिसे हज़्म करते रहें और किसी के सामने उन्हें इसका हिसाब देना न हो।

6. क़ानून की हुकूमत : छठा उसूल उस दस्तूर का यह था कि मुल्क में क़ानून (यानी अल्लाह और रसूल के क़ानून) की हुकूमत होनी चाहिए कोई क़ानून से ऊपर नहीं है और न किसी को क़ानून की हद से बाहर जाकर काम करने का हक़ होना चाहिए। एक आम आदमी से लेकर मुल्क के सरबराह तक के लिए एक ही क़ानून होना चाहिए और सबपर उसे बेलाग तरीक़े से लागू होना चाहिए। इनसाफ़ के मामले में किसी के साथ कोई फ़र्क़ नहीं होना चाहिए और अदालतों को इनसाफ़ करने में हर दबाव से बिलकुल आज़ाद होना चाहिए। ख़ुलफ़ाए-राशिदीन ने इस उसूल की पैरवी का बेहतरीन नमूना पेश किया था। बादशाहों से ज़्यादा ताक़त रखने के बावजूद वे अल्लाह के क़ानून में जकड़े हुए थे, न उनकी दोस्ती और रिश्तेदारी क़ानून की हद से निकलकर किसी को कुछ फ़ायदा पहुँचा सकती थी और न उनकी नाराज़ी किसी को क़ानून के ख़िलाफ़ कोई नुक़सान पहुँचा सकती थी। कोई उनके अपने हक़ पर भी हाथ डालता तो वे एक आम आदमी की तरह अदालत का दरवाज़ा खटखटाते थे और किसी को उनसे कोई शिकायत होती तो वे उनपर मुक़द्दमा दायर करके उन्हें अदालत में खींच ला सकता था। इसी तरह उन्होंने अपनी हुकूमत के गवर्नरों और सिपहसालारों को भी क़ानून की पकड़ में कस रखा था। किसी की मजाल न थी कि अदालत के काम में किसी क़ाज़ी पर असर डालने का ख़याल भी करता और न कोई क़ानून ही हद से बाहर क़दम निकालने के बाद पूछ-गछ से बच सकता था। लेकिन ख़िलाफ़त के बादशाही में तब्दील होते ही इस क़ायदे के भी चीथड़े उड़ गए। अब बादशाह, शहज़ादे, उमरा, हुक्काम और सिपहसालार ही नहीं, शाही महल के मुँहचढ़े लौंडी-ग़ुलाम तक क़ानून की पहुँच से बाहर हो गए। लोगों की गरदनें, पीठें, माल और इज़्ज़त सब उनके लिए जाइज़ हो गई। इनसाफ़ के दो अलग-अलग पैमाने बन गए। एक कमज़ोर के लिए और दूसरा ताक़तवर के लिए। मुक़द्दमों में अदालतों पर दबाव डाले जाने लगे और बेलाग इनसाफ़ करनेवाले जजों की शामत आने लगी, यहाँ तक कि अल्लाह से डरनेवाले

ालिमों और फ़क़ीहों ने अदालत की कुर्सी पर बैठने के बजाए कोड़े खाने ौर क़ैद होने को बेहतर समझा, ताकि वे ज़ुल्म और सितम में मददगार नकर गुनहगार न हों।

7. हक़ और रुत्बों के लिहाज़ से पूरी बराबरी : मुसलमानों में हक़ और त्बे के लिहाज़ से मुकम्मल बराबरी इस्लामी दस्तूर का सातवाँ उसूल था, ासे इस्लामी हुकूमत में पूरी ताक़त के साथ क़ायम किया गया था। सलमानों के बीच नस्ल, वतन, ज़बान वग़ैरा को लेकर कोई भेदभाव न था। बीले, .खानदान और हस्ब-नस्ब के लिहाज़ से किसी को किसी पर बड़ाई थी। अल्लाह और रसूल (सल्ल॰) के माननेवाले सब लोगों के हक़ बराबर और सबकी हैसियत बराबर थी। एक को दूसरे पर तरजीह (बड़ाई) अगर ो तो अमल, अख़्लाक़, क़ाबिलियत, सलाहियत और इस्लाम के लिए नकी ख़िदमत के लिहाज़ से थी। लेकिन ख़िलाफ़त की जगह जब बादशाही ाज़ाम आया तो असबियत (गरोहबन्दी) और तंगनज़री के शैतान हर तरफ़ सिर उठाने लगे। शाही .खानदान और उनके हामी क़बीलों का रुत्बा सबसे ंचा हो गया। उनके क़बीलों को दूसरे क़बीलों से ज़्यादा हक़ हासिल हो ए। अरबी और ग़ैर-अरबी के तास्सुब जाग उठे और .खुद अरबों में क़बीले ौर क़बीले के बीच खींचातानी शुरू हो गई। इस्लामी मिल्लत को इस चीज़ जो नुक़सान पहुँचाया उसपर तारीख़ के पन्ने गवाह हैं।

माम हुसैन (रज़ि॰) का मोमिनाना किरदार

ये थीं वे तब्दीलियाँ जो इस्लामी ख़िलाफ़त को .खानदानी बादशाहत में दलने से देखने में आईं। कोई शख़्स इस तारीख़ी हक़ीक़त से इनकार नहीं र सकता कि यज़ीद की जानशीनी इन तब्दीलियों की शुरुआत थी और ा बात से भी इनकार मुमकिन नहीं है कि इस नुक़्ते से चलकर थोड़ी द्दत के अन्दर ही बादशाही निज़ाम में वे .खराबियाँ साफ़ तौर पर दिखाई ने लगीं जो ऊपर बयान की गई हैं। जिस वक़्त यह 'इनक़िलाबी' क़दम ठाया गया था, उस वक़्त ये .खराबियाँ हालाँकि पूरी तरह सामने नहीं आई ं, मगर हर सोचने-समझनेवाला आदमी जान सकता था कि इसके लाज़िमी

नतीजे यही कुछ हैं और इससे उन सुधारों पर पानी फिर जानेवाला है ज इस्लाम ने सियासत और हुकूमत के सिस्टम (निज़ाम) में किए हैं। इसी लि हज़रत इमाम हुसैन (रज़ि०) यज़ीद के हाथ पर बैअ्त न कर सके और उन्हों फ़ैसला किया कि जो बुरे-से-बुरा नतीजा भी उन्हें एक मज़बूत जमी-जमा हुकूमत के ख़िलाफ़ उठने में भुगतना पड़े, उसका ख़तरा मोल लेकर भी उन इस 'इनक़िलाब' को रोकने के लिए कोशिश करनी चाहिए। इस कोशिश व जो अंजाम हुआ वह सबके सामने है। मगर इमाम हुसैन (रज़ि०) ने इस ब ख़तरे में कूदकर और मर्दानगी से उसके नतीजे झेलकर जो बात साबित व वह यह थी कि इस्लामी हुकूमत की बुनियादी ख़ुसूसियतें मुस्लिम उम्मत व वह क़ीमती पूँजी है जिसे बचाने के लिए एक मोमिन अपना सिर भी दे और अपने बाल-बच्चों को भी कटवा बैठे, तो इस मक़सद के मुक़ाबले कोई महँगा सौदा नहीं है। इन ख़ुसूसियतों के मुक़ाबले में वे तब्दीलियाँ जिन ऊपर नम्बरवार गिनाया गया है, दीन और मिल्लत के लिए वे बड़ी आफ़ हैं जिसे रोकने के लिए एक मोमिन को अगर अपना सब कुछ क़ुरबान क देना पड़े तो इसमें चूकना नहीं चाहिए। किसी का दिल चाहे तो इसे हिक़ार और नफ़रत के साथ एक सियासी काम कह ले, मगर हुसैन-बिन-अल (रज़ि०) की नज़र में तो यह सरासर एक दीनी काम था, इसी लिए उन्हों इस काम में जान देने को शहादत समझकर जान दी।

(तर्जुमानुल-क़ुरआन, जुलाई 1960 ई

—:—